कला-अकला

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

अकेला अकेला

मुनि रूपचन्द्र

प्रकाशक :
कमलेश चतुर्वेदी
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

मूल्य : तीन रुपये

प्रथम संस्करण : १९६७

मुद्रक :
राष्ट्रभाषा प्रिण्टर्स
दिल्ली

अक्षर के अनुसन्धाता
को

- कला का निष्कर्ष अ-कला है।
- शब्द का निष्कर्ष अ-शब्द है।
- व्यक्ति का निष्कर्ष अ-व्यक्ति है।
- जो दृश्य है वह कला है, अ-कला नहीं। जो श्रव्य है वह शब्द है, अ-शब्द नहीं। जो व्यक्त है वह व्यक्ति है, अ-व्यक्ति नहीं।
- किन्तु कला का जो मूल उत्स है, वह अ-कला है। शब्द का मूल उत्स अ-शब्द है। व्यक्ति का मूल उत्स अ-व्यक्ति है।
- हम उस कला के आभारी हैं जो हमें अ-कला तक पहुंचाती है। उस शब्द और व्यक्ति के भी, जो हमें अ-शब्द और अ-व्यक्ति तक पहुंचाते हैं।
- जो कला अपनी सतरंगी मनुहारों में अ-कला को छिपाना चाहती है, वह कला नहीं, केवल विरूप-रूप रंगों का घोल मात्र है।
- अपेक्षा है कला अ-कला का संप्रेषण मात्र हो। इतनी स्फटिक-स्पष्ट पारदर्शी जिसमें अ-कला के अतिरिक्त किसी को कोई अवकाश न हो।
- आधुनिक काव्य-बोध इस आत्म-बोध को कहां तक निभा पाया है, यह प्रासंगिक नहीं। यह कविता-संकलन अवश्य एक प्रसंग है, जो आपके समक्ष प्रस्तुत है।
- अन्त में अरूप के सजग प्रहरी परम श्रद्धेय आचार्यश्री तुलसी को कविता प्रणिपात के साथ…

१ जनवरी, १९६७ मुनि रूपचन्द्र

संकेतिका

रूप-अरूप	१
कैक्टस	२
अर्थ-हीन : अर्थ-रेखाएं	३
गन्ध-चेतना	४
तुम ?	५
सत्य-असत्य	६
कविता	७
अजगर की सांस	८
अ-कविता	९
मेढ़क और आदमी	१०
एक सम्पूर्ण हस्ताक्षर	११
त्रिकोण-दृष्टिकोण	१२
गति का सघर्ष	१३
अस्तित्व-बोध	१४
सपाट : प्रपात	१५
हमारा मन	१६
कुआरापन	१७
आस्था	१८
विवशता	१९
माध्यम	२०
परतंत्र : स्वतंत्र	२१
...... ?	२२
खुला व्यक्तित्व	२३
प्यास की प्यास	२४
चक्रव्यूह	२५
आत्म-हत्या	२६
कविता और आत्म-हत्या	२७

२८ शोध प्रश्न
२९ प्रतिशोध
३० आदमी ?
३१ ममता के घेरे
३२ अन्तराल
३३ पिंजड़ा
३४ विज्ञान-मस्तिष्क
३५ सावधान !
३६ जेठ पूर्णिमा की सांझ
३७ द्वन्द्व-बोध
३८ विश्वासघात
३९ उपसंहार
४० पास का विश्वास
४१ जरूरत
४२ घेरा
४३ आत्म-तोष
४४ अहं-विस्तार
४५ नयनो के लघु सागर मे
४७ तेज अपना तुम निखारो
४९ मेरे मन के दीप
५० सत्य क्या है, स्वप्न क्या है ?
५१ प्यास लगी जब नीर नही था
५२ मेरा अपना निर्णय
५४ मैं श्रद्धा हूं, तुम श्रद्धेय
५५ तप्त धरा पर बरस-बरस कर
५६ क्षितिज के उस पार
५७ मां और नगर-सभ्यता
६१ अकला-कला
६५ कला-अकला
६८ कला-बोध

रूप-अरूप

इन्द्र-धनुषी रंगों में से झांकता हुआ तुम्हारा मंजुल चेहरा,
क्या उतना ही स्थिर है
जितना कि रंग-बिरंगा यह इन्द्र-धनुष ?
मुझे तो लगा, तुम नहीं हो,
केवल रंग पर रंग सवार है ।

लहरों पर तैरती हुई बत्तकों के बीच
जब तुमने मेरी ओर देखा,
मैं कहां सम्हल पाया था तब भी
यों ही समझा, लहर पर लहर सवार है ।

लेकिन तुमने जब कहा—
लहरों और रंगों में ही तुम खोए हो
जल और आकाश को तुम क्या जानो,
रूप को ही देखने वाले, अरूप को क्या पहचानो
सच कहता हूं, तब से मेरी सत्ता डगमगा गई है ।

कैक्टस

अब यहां कैक्टस है
कल तक यहां थे—
गुलाब, चमेली, सदाबहार—
दिन-भर चिड़ियां एक से दूसरी डाल पर
फुदकती रहतीं;
दिन-भर पड़ोस के बच्चे
फूलों को नोचते रहते;
दिन-भर चीं-चीं-चीं—फर्रर्र-फर्रर्र
अब केवल गमलों मे कैक्टस खड़े हैं
किसी का मन नहीं उन पर बैठने का,
उन्हे छूने का,
हर दिमाग पर भी अब कैक्टस उगेगा ?

अर्थ-हीन : अर्थ-रेखाएं

सुर्ख आर्ट-पेपर पर
दो-चार अव्यवस्थित-सी, अर्थ-हीन-सी
रंग-हीन प्रबुद्ध अमूर्त रेखाएं
पर इसका अर्थ हमारी समझ में कैसे आए,
क्योंकि
हमारी अमूर्त चेतना की जो आवाजें
चट्टानी विक्षुब्ध भीड़ से टकरा कर जब लौट आती है
और हमारी ही अ-समझ के कारण
वे हमारे पड़ोसी अन्तराल में खो जाती हैं
जिसमें अन्तःगर्भित अर्थ-बोध के अस्तित्व का हमारे लिए
कोई अर्थ नहीं है
फिर इन अव्यवस्थित-सी, अर्थ-हीन-सी
रंग-हीन प्रबुद्ध पर अमूर्त रेखाओं का क्या अर्थ हो सकता है ?

गन्ध-चेतना

प्लास्टिक के रंग-बिरंगे
आज की नई सभ्यता के ये फूल
भोले माली !
जल-सिंचन की इन्हें जरूरत नहीं
फिर बिना किसी परवरिश के
देखो, ये किसी से कम खूबसूरत नहीं
हो सकता है, इनमें खुशबू नहीं
किन्तु सदा नए, सदा ताजा,
सदा हँसने-खिलने वाले
इन फूलों को छोड़कर, तुम्ही बताओ
तुम्हारे इन मुरझाने वाले फूलों से कौन प्यार करेगा !
(यों हमारी गन्ध-चेतना आज जीवित भी कहां है)
कृत्रिमता में जीने वाले हम,
हमारा मन प्रकृति से कैसे भरेगा ?

तुम ?

तुम ?
कि मेरे सामने जो
सर्वथा अव्यवहित, अनावृत, स्फटिक-स्पष्ट
और नए परिचय की आंखों में स्वच्छन्द, निर्बन्ध,
इतने निकट कि
हाथ हाथ से छू जाए
सांस सांस से टकरा जाए
फिर भी एक-दूसरे को छू नहीं पाए
मन-ही-मन अवश्य कुछ गुनगुनाए
पर इतने सजग कि
अधर कहीं खुल नहीं जाए
और मैंने जाना
टहनी से बंधा हुआ फूल
अपने कोष-अधरों पर क्यों रखता है कुंकुम
तुम ?
जैसे कि ज्वार उतरता हुआ सागर
सांझ में डूबते हुए सूरज की ओर झांक रहा हो ।

सत्य-असत्य

टिक्-टिक् कर बीतती हुई ये घड़ियां
खुल-खुल कर फिर मजबूत होने वाली
सांसों की ये हथकड़ियां
घुलती हुई पीड़ाएं
समय के साथ धुलती हुई आस्थाएं
जीवन-मृत्यु
देवता, मनुष्य, पशु, प्रेत
इनके चारों ओर चक्कर काटती हुई
सत्य की परिभाषाएं
सत्य कितना खण्डित,
            कितना बंटा हुआ होता है !
सत्य स्वयं ही कितना असत्य होता है !

कविता

जिन्दगी के चौराहे के मोड़ पर
केवल आदर्श के लैम्प को छोड़कर
मुझ पर आज तक जो कुछ भी बीता है
उसी का नाम कविता है
एक-दूसरे से सटी खड़ी है चौराहे पर
जो रंगी-बिरंगी मोटर-गाड़ियां
जैसे कि सड़क के खेत में
वाहनों की फसल उग आई हो
और आकुल हैं सारे रास्ते
जाने-अनजाने लोगों की बहुत बड़ी भीड़ से
जितने कि उनके मर्माहत दिल अपनी ही पीड़ में
पर इन सबसे दूर
व्यवहार से, प्यार से भरा होने पर भी
जो संसार भीतर से खाली है, रीता है
बस, उसी का नाम कविता है।

अजगर की सांस

एक था अजगर
विशालकाय, दैत्य की तरह मुंह फैलाए,
अनेक झाड़ियों को अपने में लपेटे
किन्तु बूढ़ा, वीर्य-हीन शक्ति का केवल इतिहास लिए
मुझे उससे संघर्ष करना था,
किया,
और विश्वास था कि उसके शरीर को चीर डालूंगा
सूखी लकड़ी की तरह,
किन्तु नहीं चीर सका
और वह निगल गया मुझे अपने कूप-उदर में
पर पचा वह भी नहीं सका मुझे;
वृक्षों के तनों से लिपट-लिपट कर
मुझे तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश में
एक दिन उसने स्वयं दम तोड़ दिया ।
मैं आज भी जिन्दा हूं !
जब तक वह जिया,
मैं उसकी सांसें जीता रहा,
आज उसके क्षत-विक्षत शरीर में से
या पता नहीं कहां से
सांस भर हवा आती है, मैं जी लेता हूं
वह मर गया है, मैं जि···न्दा हूं !

अ-कविता

रेखाओं के बीच—
रेंगती हुई रेखाएं,
रेखाओं को—
काटती हुई रेखाएं,
रेखाएं—
टूटती रेखाएं, जुड़ती रेखाएं
इन्हीं में घिरा हूं,
कैद हूं, उलझा हूं,
पर तुम मुझे इन्हीं में क्यों खोजते हो ?

मेढ़क और आदमी

हमने सब कुछ चीर-फाड़ कर
एक-एक अंग को देखा अत्यन्त सूक्ष्मता से
तो पाया
कि मेढ़क और आदमी में कोई अन्तर नहीं—
बनावट में,
सोचने के तरीकों में,
जीने की ममतामयी भावनाओं में,
सिवा इसके कि—
मेढ़क मनोरंजन के लिए आदमी पर पत्थर नहीं फेंकता।

एक सम्पूर्ण हस्ताक्षर

सुबह से सांझ तक
दिन-भर
सूरज की किरणें कमरे में जासूसी कर जाती है
छूटी हुई सांसें
सर्द भोर के कुहरे-सी
खूंटी पर टंगे कोट के कालरों पर
कमीजों की बांहों पर
आस-पास यहीं कहीं साख भरने जम जाती हैं
कमरे के दरवाजों और खिड़कियों में
आज तक समझौता नहीं हो पाया
हो भी कैसे ?
नयी और पुरानी कविता-सा
सिद्धान्त-भेद जो है
अन्तराल कितना दुर्बोध,
कितना पारदर्शी
कितना संघर्षपूर्ण होता है !

त्रिकोण-दृष्टिकोण

ओ मेरे समानधर्मा कवि !
शब्दों के 'स्पूतनिक' से
अर्थ-बोध के अन्तरिक्ष को चीर कर
यद्यपि तुमने यह जान लिया है
कि चेतना की सतह बहुत ऊबड़-खावड़ है
कि उसमें बहुत-बहुत गहरे गड्ढे पड़े हैं
कि दबी हुई वासनाओं का लावा पिघल-पिघल कर
प्रतिक्षण उसे कलंकित किए जा रहा है
कि उसके अन्दर अनेकों ज्वालामुखी आग उगल रहे है
किन्तु ओ मेरे समानधर्मा कवि !
तुम उससे डर कर भागना क्यों चाहते हो ?
तुम उसे पूर्वाग्रह का करार देकर
कोई नया आग्रह क्यों उकेरना चाहते हो ?
नए परिवेश के स्थापन में तुम इसे नकारना क्यों चाहते हो ?
नए प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के लिए
किसी प्रतिष्ठित को दुत्कारना क्यों चाहते हो ?
जब कि तुम यह जानते हो,
कि नया सदा नया नही रहता है
और शाश्वत उसका नाम है
जो विगत, वर्तमान और अनागत
सबका अन्तराल समान रूप से सहता है।

गति का संघर्ष

बहुत लम्बी दूरी को तय करता आ रहा हूं मैं
बीच-बीच में जब थक जाता हूं
शराब की घूंट लेता हूं
बिना एक सांस रुके
फिर एक लक्ष्य-हीन दिशा की ओर चल पड़ता हूं
अनेकों आंखें मुझे एकटक निहार रही है
अनेकों आवाजें मुझे अपनी ओर बुला रही हैं
मैं मन्त्र-बिधे प्रेत-सा
उनकी ओर खिंचता चला जा रहा हूं निरन्तर
हर आंख में मेरी आंख का अन्दाज लिए हुए
हर आवाज में मेरी आवाज का एहसास लिए हुए
नहीं पता, क्यों मैं इन सब पर विश्वास कर लेता हूं
और क्यों चल पड़ता हूं उनकी ओर
फिर भी चल पड़ता हूं
क्योंकि शराब का नशा मेरी पलकों को भारी किए है
अरूप से दूर मैं—
कोई रूप मुझे आभारी किए है।

अस्तित्व-बोध

पथ के किनारे खड़ा हूं
गर्द और कालिख से ढंक गया है सारा तन
रुक गए हैं रंध्र
निस्सीम बन गई है समय की सीमाएं
आंधी का एक झोंका आता है
शरीर धूल से भर जाता है
करीब से मोटरें, साइकिलें तेजी से गुजरती हैं
सारा वातावरण जैसे चीख उठता है
धूल और धुएं में उतरता-डूबता तड़प-तड़प जाता है
परतें···परत ··फिर परतें
अर्थ-हीन शब्द
शब्द-हीन अर्थ
चट्टानी परतों से टकरा-टकरा कर टूट जाते है
और खो जाते हैं इसी धूमिल वातावरण में
मैं—ओढी हुई चट्टानों के मध्य
आज भी खड़ा हूं—
चट्टान-सा अपराजित, अपरिवर्त्य, पारदर्शी
अन्धे लिबास में लिपटा।

हमारा मन

हमारा मन
कांच के दर्पण-सा
जो कि हाथ से छूटा कि टूट जाता है।

हमारा मन
मनुहारों के देवता-सा
जिसके यहां एक दिन दीया नहीं जला—
कि रूठ जाता है।

मुट्ठी में बन्द
रिस-रिस कर बहने वाले नीर-सा हमारा मन
जो कि हमारे जीवन को
किसी पकड़ में जकड़ कर
स्वयं मुक्त-बन्धनों से छूट जाता है।

कुंआरापन

माटी ही तो थी—
उर्वरा भी,
पर न मुझे बोया गया,
न गिया गया,
वर्षा का जल अवश्य मुझ पर गिरा,
जो भी उगना था, उग गया—
आवारा सन्तानें—कंटीली झाड़ियां, आक के पत्ते
घास-फूस—
इनसे औरों को तकलीफ है,
(मुझे भी क्या कम है)
पर किसी भी रूप में उगती कैसे नहीं ?
माटी जो थी—
उर्वरा भी—

आस्था

अनगिन गांवों के अन्तराल मे लेटी
यह दीर्घ-तपस्विनी सड़क
मौन, गंभीर, दुर्धर्ष, अजेय—
सहिष्णुता की पराकाष्ठा,
काश ! जीवन के प्रति भी हमारी यही आस्था होती !

विवशता

धूल-सनी पानी-सा सूरज
धुन्ध भरा दिन, हवा नम
सब दिशाएं मौन, उदास,
कोई ज़्यादा, कोई कम
जी चाहता है,
कोई दर्द न रहे, सबका मैं लूं गम
आम्र-मंजरी पर बैठी कोयल
तभी कुहुक उठी,
इतने सौभाग्यशाली कहां हैं हम
कोई हमारे गीत भी तो छीन ले कम से कम
पर इतने सौभाग्यशाली कहां हैं हम !

माध्यम

सड़क के किनारों पर खड़े
स्तब्ध खंभों की तरह हमारे ये दिमाग,
जो कि विज्ञान और सभ्यता के नाम पर
एक छोर से दूसरे छोर तक
विद्युत्-तरंगों का संप्रेषण भी करते हैं,
सामाजिक चेतना का आदान-प्रदान भी करते हैं,
वेदना-प्रसन्नता, घृणा-प्रेम का स्थापन भी करते हैं,
युद्ध-धमकियां, मैत्री, बन्धुता का विज्ञापन भी करते हैं,
संवेदनशील होते हुए भी
इन खंभों की तरह हमारे ये दिमाग,
क्योंकि संवेदना का संचालन इनके हाथ में नहीं है।

?....

…और आज हम
एक बहुत बड़े संकट से गुज़र रहे हैं
राष्ट्र-प्रासाद के दरवाज़े पर
दस्तक दे रहे हैं हज़ारों हाथ
उन्मत्त, उत्तेजित, पागल अनभोगी, क्रुद्ध भीड़ के
जिसके पास खाने को नहीं है अन्न,
तन ढाकने को नहीं है वसन,
जिनकी भूखी, नंगी आत्माएं तड़प-तड़प कर
अभिशाप दे रही हैं समूचे राष्ट्र को
कर्णधार कहते हैं—योजना हमारी है, श्रम हमारा है
और फल…?
कहते तो यही हैं कि फल भी हमारा है
लेकिन…
किसे मिल रहा है फल ?
क्या इम्पेरलिज़्म स्वयं कम्युनिज़्म को ही निमन्त्रण
नहीं दे रहा है?

प्यास की प्यास

आमने-सामने दिखाई देने वाले
इन दो सितारों के बीच की दूरी का
क्या तुम कोई अन्दाज लगा सकते हो ?
आमने-सामने खिलने वाले
इन दो फूलो के बीच की मजबूरी का
क्या तुम कोई राज बता सकते हो ?
नहीं पता,
क्या सितारों में चमक इसलिए ही है
कि इनके बीच चांद के पसन्द की दूरी है
क्या फूलों में महक केवल इसलिए ही है कि
इनमें एक-दूसरे के लिए भ्रमर के पसन्द की मजबूरी है
तभी तो उस दिन चांद ने डूबते-डूबते कहा था—
रात-भर राज्य मैंने किया,
पर मेरे मन की साध आज भी अधूरी है
और भ्रमर भी कुछ गुनगुना रहा था
कि जी भर कर रस मैंने पिया,
लेकिन जैसे प्यास की प्यास हर सांस के लिए अधूरी है।

आत्म-हत्या

सूर्योदय से पहले—
उठते ही सुना कि जीवन-निगम की नवी मंज़िल से
एक पचीसवर्षीय नवयुवक ने कूद कर आत्म-हत्या कर ली
पिछवाड़े के मैदान में
कल जो लावारिश लाश पड़ी थी,
उसके लिए
रात-भर गली के कुत्ते आपस में
लड़ते-झगड़ते रहे, छीना-झपटी करते रहे
सामने दूर तक फैली काली नागिन-सी सड़क पर
एक नर-आकृति बड़ी बेरहमी से बैलों को पीटते-पीटते
गाड़ी को घसीटती चली जा रही है
सामने के मोड़ पर टकरा कर चकनाचूर हुई दो बसें
विशालकाय दैत्य की तरह बड़ी डरावनी लग रही हैं
सर्वत्र एक ही प्रश्न—अपनी अस्मिता का,
उससे भी अधिक, उसे तोड़ने वाली व्यवस्था का,
उससे भी अधिक, उसे तोड़ने वाली विवशता का,
मैं उठकर खिड़कियां बन्द करने को दौड़ता हूं
किन्तु नही कर सकूगा,
खण्डित शीशों के बिखरे टुकड़े मेरे पाव में पैठ गए है
देखो तो तुम, एक और दुर्घटना हो गई है।

शोध-प्रश्न

मैं हर बार अपने को नकारता रहा हूं,
लोग सोचते हैं,
        मैं कैद होता जा रहा हूं
मुझे लगता है—
        मैं मुक्त होता जा रहा हूं ।

आदमी ?

भावों के शव को
शब्दों के कफन से ढंककर
अक्षरो के फूलों से सजाकर
बन्द कमरे में छोड़ दूं ?
सम्भव है,
आज तक तिरस्कृत चेतना के 'पोस्ट-मार्टम' से
मानवता का राज खुल जाए
डर केवल इतना ही है
पोस्ट-मार्टम करने वाला कोई आदमी ही तो नहीं होगा।

ममता के घेरे

हमारी आस्थाओं का एक छोर
उस परम विराट् को छू गया है, तो दूसरा अन्त-हीन जुगुप्सा को
हमारी आशाओं की यह डोर
एक ओर तृप्तियों का संभार लिए है, तो दूसरी ओर अबुझ
लिप्सा को
हमारी परम्पराओं का विस्तार
एक ओर उत्कर्ष का इतिहास लिए है, तो दूसरी ओर जड़ता को
हमारी मान्यताओं का आधार
इधर सत्य का अहं लिए है, तो उधर रूढ़ अल्हड़ता को
फिर हम अपनी आस्था को किसी खूंटे से ही क्यों बांधें ?
आशा को केवल पंखो से ही क्यों साधें ?
परम्पराओं में प्राण ही क्यो टटोलें ?
मान्यताओं को सत्य से ही क्यों तोलें ?
काश ! ममता के इन घेरों से हम ऊपर उठ पाते !

पिंजड़ा

आंगन के पार—
द्वार,
उसके भी पार
खुला मैदान, खुला आकाश
जिसमें बन रहे हैं कुछ पिंजड़े—कुछ द्वार
बसेंगे उनमें वे
जो अब तक थे बे-घर-बार,
सच ही है
खुले आकाश को बांधे बिना
कोई पिंजड़ा तैयार नहीं हो सकता
जिसमें, एक मनुष्य के सिवाय,
किसी भी पंछी को बन्दी बनाने से प्यार नहीं हो सकता।

अन्तराल

सिमटता जा रहा है सारा अन्तराल
आदमी और चांद का
धरती और अन्तरिक्ष का
देश, काल, समाज, परिवार और व्यक्ति का
आस्थाओं, परम्पराओं, स्थापनाओं और परिभाषाओं का
पर वह टूट नहीं सकता
क्योंकि अन्तिम सत्य अन्तराल होता है, आदमी नहीं,
क्योंकि अन्तिम सत्य काल होता है,
नया या पुराना नहीं।

पिंजड़ा

आंगन के पार—
द्वार,
उसके भी पार
खुला मैदान, खुला आकाश
जिसमें बन रहे हैं कुछ पिंजड़े—कुछ द्वार
बसेंगे उनमें वे
जो अब तक थे बे-घर-बार,
सच ही है
खुले आकाश को बांधे बिना
कोई पिंजड़ा तैयार नहीं हो सकता
जिसमें, एक मनुष्य के सिवाय,
किसी भी पंछी को बन्दी बनाने से प्यार नहीं हो सकता।

विज्ञान-मस्तिष्क

विद्युत-तरंगों से प्रताड़ित
उत्तप्त-पीड़ित—
किन्तु सभ्य, सुसंस्कृत,सुविकसित
आज का विज्ञान-मस्तिष्क
हजारों लाखों किलोवाट आग को अपने में थामे हुए,
सावधान, खतरा है
तुम इस पर इन्सुलेटर कस दो न!
देखो, कोई नादान इसको छू नहीं जाए
नई सभ्यता में से कहीं पशुता की बू नहीं आ पाए।

सावधान !

शब्दों के खोल में
वेदना का बारूद भर कर
कविता के 'टाइम-बम' को कहां-कहां रख आए हो तुम !
देखो, समय से पहले कोई सन्तरी सचेत नहीं जाए,
मानवता के विद्रोही स्वर का राज खुल नहीं जाए
और खुले तो भी तभी
जब वह जन-जन के मनों में घुल-मिल आए
उस घुलन-मिलन से पहले तक
हमें नई कली को गुलाम मुसकान से रोकना है
निर्दोष चेतना को अर्थ-हीन बलिदान से रोकना है
सावधान !
सभ्यता के लिबास में लिपटे
इस आज के समाज पर कड़ी नज़र रखना है !

जेठ पूर्णिमा की सांझ

जेठ पूर्णिमा की सांझ

खून-सने मस्तक-सा
दुश्मनों से जूझता जो शेष सांसों तक
वीर-गति पाकर
समर की बलि-वेदी को
स्वयं समर्पित हो गया है सूर्य
सुन रहे हैं उसकी ही प्रशस्ति का यह तूर्य
कल-रव घोंसलों में लौटते इन पंछियों का

असहाय धड़-सी
धरा की दहलीज पर गिर रही है सांझ,
जिसके गात को
उफनते दूध-सी
उत्तप्त उज्ज्वल धो रही है चांदनी।

द्वन्द्व-बोध

लजीली किरणें दिन-भर खिड़की से
झाँकती रही,
पर पास नहीं आईं
चमेली की रसीली गन्ध
हर बार दर्दीले जिस्म को टाँकती रही
पर सांस नहीं आईं
छोड़ो भी इसे,
इन सबके लिए अभी फुर्सत कहां है
बाहर टैंकों का गर्जन
गोलियों की दनदनाहट सुनाई दे रही है
भीतर भी कोई आक्रमण की ताक में बैठा है,
सावधान, सजग
सशंक, सतर्क—
अभी इनके सिवाय और फुर्सत कहां है ?

विश्वासघात

अहं सरोवर के छिछले जल में
किनारे पर खड़े तपस्या-तरू के शिशु कोंपल और तरुण पत्ते,
या तो सड़-सड़ कर गिर गए
या फिर उसमें गिर-गिर कर सड़ गए
यों अपनी ममताभरी परछाइयां औरों में देखकर
बहक जाना, अनहोनी बात नहीं
किन्तु पोषण के लिए पर्याप्त जल से ही तोष न मानकर
उसमें ही डूब जाना,
या उसे पाने के लिए डाली से अलग टूट जाना,
क्या अपने साथ ही बहुत बड़ा विश्वासघात नहीं ?

उपसंहार

सीमा-विस्तार की लिप्सा से
मदमाते बादलों का परस्पर टकरा जाना
भीषण गर्जन, आग, बिजली की कड़क से
एक-दूसरे पर टूट पड़ना
लहू-लुहान हो जाना
रोषारुण-गुत्थम-गुत्था होकर नीचे गिर जाना,
मकानों, गांवों, नगरों, पशुओं और मनुष्यों को
अपने साथ बहा ले जाना,
चारों ओर हाहाकार
प्रलय का भयंकर तांडव उपस्थित कर देना
किन्तु अन्त में अपनी ही सुरक्षा के लिए
शान्तिप्रिय, गंभीर, मर्यादाशील समन्दर की शरण ले लेना,
उसी में छुप जाना, बाहर अपना मुंह न दिखाना
तो सीमा-विस्तार की लिप्सा के शिकार—
देशों का उपसंहार क्या इसी प्रकार नहीं होता !

पास का विश्वास

इसलिए ही तो मैंने तुमसे
मेरे पास में होने का आग्रह किया था।
क्योंकि तब मुझे पास का विश्वास भी उतना ही था
जितना विश्वास का विश्वास
किन्तु जिस्म से उठने वाले सांसों की आशा—
घ्राण-रन्ध्रों से करना—
कितनी नासमझ कल्पना है यह
पर यह समझ
जिस्म में आज तक कब आई ?
यह समझ
विश्वास में आज तक कब आई ?
'पास' में यह समझ अवश्य है
पर अब 'पास' का विश्वास…?

जरूरत

काश ! मैं पत्थर होता
निष्ठुर तो अवश्य होता
किन्तु मिट्टी की तरह दरारें नहीं पड़तीं तब मुझमें
पानी के कल-कल निवेदन से
न ही मुझमें बड़े-बड़े गड्ढे पड़ते—
किसी प्यास के आवेदन से,
न ही मुझमें कोई सिहरन पैदा होती तब—
किसी बीज की पीर से, संवेदन से,
सच, यदि मैं पत्थर होता—
तो क्यों होता पिंजड़ा ?
जब नहीं होता तोता ।

घेरा

जी चाहता है
खिड़कियां खोल दूं
भीतर की उमस छंट जाए
तो बाहर की शुद्ध ताजी हवा में
जिन्दगी आराम से कट जाए
पर किसे खोलूं ?
खिड़कियां हैं कहां ?
आस-पास चारों ओर मकानों के घेरे—
जिनकी ओर खिड़कियां निकालना कानूनी अपराध है
और जहां कानून और जिन्दगी के बीच विवाद है
वहां कानून ही जिन्दाबाद है ।

आत्म-तोष

नहीं मालूम,
आज तक क्या जिया !
जो भी जिया—
जिस तरह भी जिया
जी लिया !!
अनुताप नहीं,
पश्चाताप···?
यही कि
केकड़ों और मकड़ियों के बीच ही जिया ।
तोष···?
यही कि उनकी तरह नहीं जिया ।

अहं-विस्तार

अहं का यह विष्णु-विस्तार—
यह वामन घरौंदा
(जो कि निरन्तर और सिकुड़ता जा रहा है)
ये लांछित-निर्वासित प्यासी सीता-कामनाएँ
यह भ्रष्ट अग्नि···
नहीं, अणु-परीक्षा,
बेपनाह सपनों पर हिम-पात
बेगुनाह दिमागों पर 'हिडन पर्सुएसन'
गुमराह आवाजें
फरार सांसें
अष्टावक्रीय शरीर को फिर भी ढोया जा सकता है,
किन्तु आत्मा को···?

नयनों के लघु सागर में

नयनों के लघु सागर में
प्राणों की नौका को थामे वह धीमे-धीमे कौन आ रहा ?

जिसके चरणों की हलचल से
हर ज्वार उभरता मिटता है
हर लहर रचाती नृत्य नया
हर सांस मचलता बढ़ता है
वह मन्द-मन्द
फिर भी अमन्द उत्साह लिए
प्राणों की वीणा को थामे वह धीमे-धीमे कौन गा रहा ?

उसने ही जल को गति दी है
गति ने नाविक को अमिट प्यार
आवर्त्त लहर की परवशता
संसार वही, है वही पार
वह शान्त, धीर
फिर भी अधीर बन चुपके से
इस सूने नभ को आज सजाने धीमे-धीमे मौन छा रहा

जग ने माना मैं धन्य बना
जलनिधि ने सोचा मिले प्राण
सब शून्य दिशाएँ विहँस उठीं
दिग्मूढ आज भी मैं अजान
वह अलख सन्त
जो दिग्-दिगन्त आलोकित करने
किरणों का रथ कर में थामे धीमे-धीमे प्रात ला रहा

तेज अपना तुम निखारो

तेज अपना तुम निखारो इस तरह अब,
सूर्य भी यह दीप-सा लगने लगे

कल्पना के किस जगत में तृप्ति खोई ?
क्यों दिगन्तों पार जाकर प्यास रोई ?
आज जब विश्वास मन के भ्रान्त, हारे,
पंख क्या तब उड़ सकेंगे नभ-सहारे ?
रूप अपना तुम सँवारो इस तरह अब,
मौन भी संगीत-सा लगने लगे

बन्द क्यों ममता स्वयं के नीड़ में ही ?
क्यों बरसता नीर अपनी पीड़ में ही ?
यह हिमाचल आज तक क्यों पिघल रहा है ?
दीप क्या अपनी जलन में जल रहा है ?
अहं अपना तुम उजारो इस तरह अब
शत्रु भी हर मीत-सा लगने लगे

छोड़ दो तुम दीर्घ जीवन की उमंगें,
पार जाओ मृत्यु की जो ये तरंगें।
वही नर है आग बनकर जी सके जो,
वही शंकर गरल को भी पी सके जो।
किरण अपनी तुम पसारो इस तरह अब,
वज्र भी नवनीत-सा लगने लगे

तेज अपना तुम निखारो इस तरह अब,
सूर्य भी यह दीप-सा लगने लगे

मेरे मन के दीप

मेरे मन के दीप सदा इतिवृत्त नया गढ़ते हैं।

अवनी का कण-कण विकसित है मेरी परछाईं से
अम्बर का कण-कण पुलकित है मेरी अँगड़ाई से
क्योंकि अवनि-अंबर सम्पुट में मेरा उदय हुआ है
दोनों का ही धुँधलापन सचमुच में विलय हुआ है
मैं अतीत की सीमा में ही पलने कब आया हूँ
बिना लक्ष्य जीवन-भर यों ही जलने कब आया हूँ
मेरे हर इंगित पर अगणित चरण सदा बढ़ते हैं

मेरे कंपित अधरों ने जग का संवेदन गाया
विस्मित सस्मित पलकों ने जग का सौन्दर्य दिखाया
गति की कुंठा को फिर से आन्दोलित करने ही तो
मैं चंचल लहरों का रूप धरा पर लेकर आया
मैंने गाया जगती ने उसको सिद्धान्त बनाया
टिके जहां भी चरण उसी को साध्य-पंथ बतलाया
तभी गगन के चन्द्र-सूर्य ये धरती को पढ़ते हैं

सत्य क्या है, स्वप्न क्या है ?

सत्य क्या है, स्वप्न क्या है ?

चित्त की विक्षिप्तता क्या प्राण लेकर ही रहेगी
और मानस की हिलोरें भँवर में जा ले गिरेंगी ?
तूलिका के मोह में क्या चित्र भी अस्फुट रहेंगे ?
पथ के व्यामोह में क्या चरण ये बढ़ते रुकेंगे ?
भग्न ही जब पूर्ण बनते, भग्न क्या है, पूर्ण क्या है ?
सत्य क्या है, स्वप्न क्या है ?

सत्य पर क्या सत्य के ही आवरण आते रहेंगे ?
स्वप्न ये क्या सत्य के आकार नित पाते रहेंगे ?
स्वच्छता की कामना में म्लानता बढ़ती रहेगी ?
मुक्ति की यह भावना क्या मृत्यु ही पढ़ती रहेगी ?
तथ्य ही जब वितथ बनते, तथ्य क्या है, वितथ क्या है ?
सत्य क्या है, स्वप्न क्या है ?

प्यास लगी जब नीर नहीं था

प्यास लगी जब नीर नहीं था,
नीर भरा अब प्यास नहीं है।

बैठा निज सांसों के रथ पर
बढ़ा अकेला अब तक पथ पर
आज हजारों है जब घेरे
पर उनका विश्वास नहीं है।

मिला अमित नभ जब सब जग को
नहीं प्राप्त थे पंख विहग को
आज फड़फड़ा रहा पंख, पर
उड़ने को आकाश नहीं है।

जग के माया-बंधन छोड़े
पर मन के यदि बन्ध न तोड़े
तो क्या, क्योंकि चित्त से बाहर
जगत और संन्यास नहीं है।

सांसों की वीणा अधरों पर
रुँधे हैं पर गीतों के स्वर
जीवन-मुक्त बना मैं, सचमुच
सांसों का अहसास नहीं है।

मेरा अपना निर्णय

मेरा अपना निर्णय जो अखरे तुमको यदि
तो उसको बदलूँ मैं, यह भी कभी न संभव ।

जग के कण-कण से टकराकर पवन आ रहा
किन्तु मुझे तो अपने ही ये श्वास जिलाए
संभव है जगती का घट हो भरा सुधा से
किन्तु सलिल ही मेरी अब तक प्यास बुझाए
तो धरती को छोड़ गगन में उड़ने को भी
बार-बार हैं मना कर रहे मेरे अनुभव
मेरा अपना निर्णय जो अखरे तुमको यदि
तो उसको बदलूँ मैं, यह भी कभी न संभव ।।१।।

तट का जो इतिहास अचलता में अंकित है
उसकी आशा कर सकते क्या चपल लहर से ?
जिसने सदा अमरता दी आहत प्राणों को
वह प्रत्याशा कर सकते क्या कुटिल जहर से ?

पल-पल की भूलों ने मुझको सजग बनाया
उनसे ही हर विश्वासों का होता उद्भव
मेरा अपना निर्णय जो अखरे तुमको यदि
तो उसको बदलूं मैं, यह भी कभी न संभव ॥२॥

मेरी ममता ने ही जो संसार बसाया
वह मेरा बन्धन बनकर कब टिक सकता है ?
मेरी क्षमता ने ही जो आकार सजाया
विधि के निर्मम झोंकों से क्या मिट सकता है ?
मेरा मौन तुम्हारे पथ में बाधक है यदि
तो बोलूं मैं, यह भी मेरे लिए असम्भव
मेरा अपना निर्णय जो अखरे तुमको यदि
तो उसको बदलूं मैं, यह भी कभी न संभव ॥३॥

मैं श्रद्धा हूं, तुम श्रद्धेय

मैं श्रद्धा हूँ, तुम श्रद्धेय ।
जीवन के आधार बने तुम, मैं तुममें आधेय ।

अनजानी कितनी राहों ने मुझको पथिक बनाया
अनजानी कितनी चाहों ने मुझको व्यथित बनाया
मैं हूँ श्रान्त और यह पथ भी तो पाषाण भरा है
श्रान्त नहीं हूँ जीवन के कण-कण में प्राण भरा है
मुझे भीति क्या, पाया मैंने जीवन का पाथेय ।
मैं श्रद्धा हूँ, तुम श्रद्धेय ।

आवर्त्तों में फँसकर किसने तीर सिन्धु का पाया
लहर-लहर में मझधारा है यह किसने बतलाया?
छिपे पड़े हैं जीवन के आवर्त्त इसी धरा में
बेसुध लेटे जीवन के आदर्श इसी कारा में
इसीलिए ही तुम मुझसे हो अब तक भी अज्ञेय ।
मैं श्रद्धा हूँ, तुम श्र द्धेय ।

जीवन के आधार बने तुम, मैं तुममें आधेय ।
मैं श्रद्धा हूँ, तुम श्रद्धेय ।।

तप्त धरा पर बरस-बरस कर

तप्त धरा पर बरस-बरस कर खाली बादल आए।
जैसे गुलदस्ते में कागज के शतदल विकसाए।।

किन्तु धरा की लाज नहीं इससे अब तक ढँक पाई,
एक कली भी नहीं हृदय के उपवन की खिल पाई,
जैसे ज्योति-हीन आँखों से काजल गल ढल जाए।

भले मचाए शोर पपीहा और मोर भी बोले
किसका साहस सामन्तों का भेद यहाँ पर खोले
जैसे सरल शलभ को दीपक जल-जल कर छल जाए।

क्यों धरती का मौन दे रहा नभ के मद को पोषण
उत्तर था वह फूट रहा है देखो शोषण का व्रण
और तभी मुरझे पादप के पल्लव-दल मुसकाए।

क्षितिज के उस पार

क्षितिज के उस पार कोई गा रहा है।

सिन्धु थे तुम क्यों बनें घट में समाहित
स्वप्न के विश्वास में बन क्यों विवाहित
खो रहे अस्तित्व अपना व्यर्थ में ही
सो रहे क्यों जाग कर भी व्यर्थ में ही
दीप पर यह तिमिर क्यों अब छा रहा है ?
क्षितिज के उस पार कोई गा रहा है।

स्नेह से जब शून्य फिर आलोक कैसा
स्नेह में आबद्ध इसका शोक कैसा
बद्ध के आधार पर तो मुक्त का ही
शून्य के आधार पर तो सत्य का ही
जगत् यह इतिवृत्त गढता आ रहा है
क्षितिज के उस पार कोई गा रहा है।

मां और नगर-सभ्यता

मां !
तुमने मुझको यहां कहां भेजा है
गांव के शुद्ध, सात्विक और शान्त वातावरण से दूर
इस घुटन-भरे, कालिख-भरे, शोर-गुल-भरे, बेचैनी-भरे,
बदबू-भरे और क्रूर वातावरण में ?
बदबूदार—बिलकुल सच कहता हूं,
यहां की सुन्दरतम इमारत से भी बदबू उठ रही है,
तुमने तो कहा था न कि
यहां के लोग बहुत सभ्य होते है, उदार होते हैं,
ऊँचे पढे-लिखे, शिष्ट और समझदार होते है,
किन्तु मां !
यहां की इस सभ्यता से, उदारता से,
शिष्टता और बौद्धिकता से मैं एकदम ऊब गया हूं
और लगता है कि मैं एक ऐसे विशाल समन्दर में डूब गया हूं
जिसमें कीचड़ भरा है स्पर्धा, स्वार्थ और अर्थ-लिप्सा का

यह सही है यहां के लोग सुशिक्षित हैं
किन्तु दम्भ, छल, फरेब रचने के लिए
यहां के लोग सभ्य है
उस छल, दम्भ, फरेब को ढंकने के लिए
ये उदार हैं
किन्तु केवल अपनों के लिए
शिष्ट और समझदार है
अपना मान-सम्मान बनाए रखने के लिए
नहीं तो, मां !
ये सीधे-सादे किन्तु असहाय लोग यहां दर-दर की ठोकरें क्यों खाते है?
केवल कुछ ही लोग बड़ी-बड़ी कोठियों में बैठे क्यों इठलाते है ?
समर्थ, योग्य पर साधनहीन व्यक्ति इन फुटपाथों पर पड़े
क्यों दम तोड़ रहे है ?
खच्चरों के स्थान पर ठेलों से जुते ये आदमी सड़कों पर क्यों दौड़ रहे है ?
टिड्डी-दल की तरह हर रास्ते पर उमड़ती हुई यह भीड़
सब ओर से उठता हुआ यह धुआं,
उजली इमारतों के नासूरों में से
रिस-रिस बहकर आने वाली ये गन्दी नालियां,
फिर तुम्ही बताओ,
इस अपार भीड़, चारों ओर धुआं, गंदी नालियां, सीलन-भरी कोठरियां
शोर-गुल, आपा-धापी, बेतहाशा दौड़-धूप—
ऐसे शुद्ध (?) वातावरण में कोई नया फूल कैसे खिलेगा ?
इन निर्दयी झंझावातों के बीच कोई दीप कैसे जलेगा ?
तुमको यह सुनकर आश्चर्य होगा, मां !
गुलाब की तरह हँसते रहने वाले शिशुओं के होंठों पर यहां मुसकान नहीं है
युवकों के चेहरे पीले पड़ गए हैं,

आंखें अन्दर धंस गई हैं
लगता है तेज और ओज-भरे यौवन से उनकी कोई पहचान ही नहीं है।
बारीक, आकर्षक रेशमी लिबास में लिपटी सुन्दरियां,
जैसे शृंगार-विलास से अधिक उनके जीवन में किसी का सम्मान नहीं है।
और मां !

हज़ारों, लाखों चेहरे सामने से गुज़र रहे हैं
पर जैसे किसी में स्पन्दन नहीं है, प्राण नहीं है
केवल माटी के बुतों से आकीर्ण यह शहर
बहुत सुन्दर है यद्यपि, मां !

दूर-दूर तक फैली है नागिन-सी काली स्याह सड़कें इसके चारों ओर
अँधियाये आकाश में से झांकते हुए सितारों की तरह
खम्भों पर टंगे है रंग-बिरंगे ट्यूब-लाइट्स भी,
आदमियों से भी अधिक व्यस्त हैं यहां की खूबसूरत मोटर-कारें,
ये बड़ी-बड़ी आलीशान गगनचुम्बी अट्टालिकाएं,
नव-वधुओं की तरह सदा सजी-धजी रहने वाली दुकानें,
आंखों को चुंधिया देने वाली तेज़ रोशनी
और आंखों को भटका देने वाले ये भड़कीले पोस्टर्स,
और भी पता नहीं क्या-क्या है यहां,
जो हर राहगीर को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं
किन्तु यह सुन्दरता, सज-धज बिलकुल बनावटी है, मां !
इसमें मोहकता है—
पर जिसकी छटपटाहट फंसने के बाद ही मालूम होती है
यों दानों का प्रलोभन बहुत सारे पंछियों को यहां फंसाए है,
पर भीतर से यहां की हर आत्मा टूटी हुई है, बिलपती है, रोती है
ऐसा लगता है, मां !
सहानुभूति, एक-दूसरे के लिए प्यार जैसी कोई चीज नहीं है,

सर्वत्र व्याप्त है—अविश्वास, भय, सन्देह और परायापन
हर बात में राजनीति, सौदा,
सामाजिक मूल्यों का सस्तापन
इन्सान यहां का इन्सान नहीं रह गया,
यंत्र मात्र है, मां !
सत्य और शालीनता से रिक्त,
उसके व्यवहार षड्यंत्र मात्र हैं, मां !
फिर मैं तुम्हारी, मेरी और अपने सीधे-सादे गांव की
कहानी किसे कह पाऊंगा ?
मां ! इस नए संसार में मैं कब तक रह पाऊंगा ?

अकला-कला

कला-पारखी दर्शको !
मुझे खुशी है कि मेरा कला-चित्र आपको
पसन्द नही आया ;
क्योंकि इसमें कुत्सा चित्रित है
अनावृत है इसमें जुगुप्सा, आक्रोश, घुटन,
फुफकारती हुई खीज, अन्तर्द्वन्द्व के साथ
किसी का शोषण, किसी का उत्पीड़न
पर मैं विवश हूँ
क्योंकि आज यह सब कुछ सहज जो है
और सहजता का चित्रण करना ही कला का धर्म है
कला का मर्म है
फिर जो आप सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना करते हैं
वे सब सहजता में से ही तो आते है
आप झर-झर करते हुए इन निर्झरों को देखें
कल-कल करती हुई इन सरिताओं को देखें
झींगुरों की गूज से अनुगुंजित इन घाटियों को देखें

और इसके वक्ष पर बेसुध-सी पड़ी-बिखरी
इन कँटीली अस्त-व्यस्त लताओं को देखें
उधर गोधूलि के समय चारागाहों से लौटती हुई गाएँ
रँभाते हुए प्रतीक्षातुर बछड़े
डूबता हुआ सूरज
उगता हुआ चाँद
आप दूर न जाएँ
आपके पास ही किलकारी भरता हुआ अबोध शिशु
और श्रम की बूँदों से अभिषिक्त
खेत में लहलहाती हुई धान की ये बालियाँ
ये सत्य क्यों हैं ? शिव और सुन्दर क्यों है ?
इसलिए ही तो
क्योंकि ये सहज हैं, इनमें शिल्प नही है
कृत्रिमता नही है ;

और आप क्योंकि सहज नहीं हैं
और यद्यपि शिल्प आपको भी पसन्द नही है
किन्तु असहजता को छिपाने के लिए आप शिल्प को स्वीकारते हैं
असहज को सहज बनाने के लिए उसे शिल्प से सँवारते हैं
पर वह सँवारना औरों के लिए ही तो है ?
खुद से तो खुद का भेद अजान नही ?
इसका अर्थ यह हुआ
शिल्प किसी को सँवार सकता है
किसी सत्य को आवृत्त कर सकता है
पर क्या वह किसी सत्य को प्रभावित भ
इन हँसते हुए फूलों को गौर से देखिए
उसी रूप में
जो पंखुड़ियाँ

उनमें छितरे हुए रंगों को देखें, वे उसी रूप में सुन्दर हैं
यदि इन पंखुड़ियों को किसी शिल्प से सजाएँ तो…!
इन रंगों पर और किसी रंग की छाया दें तो…!
कलियों पर फुदकने वाली तितलियों के पंखों पर
किसी शिल्प-कला का प्रयोग करें तो…!
क्या यह सौन्दर्य उसमें से प्रस्फुट हो सकेगा ?

और यह शिल्प क्योंकि औरों के लिए है
क्योंकि असहज को छिपाने के लिए है
फिर आपका अपना 'व्यक्ति' उससे प्रभावित कैसे होगा
भले ही आपके मानदंड शिल्प पर आधारित हों,
और उसी के आधार पर मेरे कला-चित्र अस्पृहणीय भी हों
पर मुझे खुशी है
कि मैंने इसको शिल्प नहीं दिया
मुझे खुशी है
आप लोगों ने इसे पसन्द नही किया
और मुझे खुशी है
कि मैंने अपना अभीप्सित लक्ष्य आज पा लिया
क्योंकि मैंने जुगुप्सा को रोप नहीं दिया
उसमें प्रेम घोला है
क्योंकि मैंने पीड़ा को दबाया नहीं,
मवाद को निकल जाने के लिए उसमें
एक छोटा-सा द्वार खोला है
क्योंकि मेरी कला सत्य को कुरेदने वाली है
केन्द्र को भेदने वाली है

आप समझें
आप वह नहीं हैं, जो आप जी रहे हैं
उससे प्यास नहीं बुझने वाली है, जिसे आप पी रहे हैं
मेरी तरह आप भी इसे खूब जानते हैं
फिर भी आप विवश हैं ऐसा करने के लिए
फिर मैं
और मेरी कला भी तो विवश है, उसी रूप में उभरने के लिए
और मुझे विश्वास है
यह उभार ही आपको उबार सकेगा
इस वर्तमान से—
जिसमें कुत्सा है, जुगुप्सा है, आक्रोश है, घुटन है,
फुफकारती हुई खीज है, शोषण और उत्पीड़न है
इन सबको अब दूर होना ही होगा
क्योंकि दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाला आपका ही बिम्ब
आपको पसन्द नहीं है
क्योंकि मेरा कला-चित्र आपको पसन्द नहीं है
क्योंकि मेरी कला किसी शिल्प में बन्द नहीं है
क्योंकि आपने जान लिया है
कि शिल्प व्यवसाय होता है
सत्य, शिव और सौन्दर्य के साथ उसका सम्बन्ध कैसा है ?
वाणी विवशता होती है,
मौन के साथ उसका अनुबन्ध कैसा
......?

कला-अकला

न साधना के लिए योग्य नहीं हो, राजकुमारी !
योंकि तुम्हारा रूप बहुत सुन्दर है
और सौन्दर्य साधना के लिए अभिशाप है
रीर की परख करने वालों के लिए यह अनमोल नगीना होता है
न्तु आत्मा को साधने वालों के लिए यह बहुत बड़ा पाप है
म आत्मा के लिए अपात्र हो, सुन्दरि !
ाओ, अपने घर लौट जाओ
ौट···जा···ओ···अपने घ···र !

ाधना की बलवती भावना ने
रुदेव के दूसरे वाक्य की बिना कोई प्रतीक्षा किए
पनी सुन्दर आकृति को
ोहे की गरम शलाकाओं से विकृत कर दिया
ौर बिना कोई दूसरा वाक्य निवेदन किए
पने को सम्पूर्णतः गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर दिया
कन्तु एक प्रश्न

जो तब भी था उस आकुल और विवश वातावरण में
और आज भी है।
क्या सौन्दर्य और सत्य में कोई अनुबन्ध नहीं ?
क्या सौन्दर्य सत्य का ही प्रबन्ध नहीं ?
धरती का क्या ऐसा कोई भी कण है
जो सत् से रहा वंचित है ?
और सत् का भी क्या ऐसा कोई क्षण है
जो बिना सौन्दर्य होता रहा संचित है ?
अथवा सत्य सुन्दर को नही सह सकता ?
या कि सत्य सुन्दर में नहीं रह सकता ?
जो सत्य है क्या वह सुन्दर नहीं ?
सुन्दर बाहर ही है ? भीतर नहीं ?
कीच-भरा यह दलदल
उस पर हँसता हुआ यह शतदल
अँधियाए, बेडौल, ये नुकीले पत्थर
पारदर्शी, सुहावनी, मनमोहक ये मुकुट मणियाँ
ये मटियाये घड़े
माटी को फोड़कर निकलने वाली ये हरिताभ बालियाँ
यदि पहला सुन्दर नहीं,
दूसरे मे सुन्दरता कहाँ से आई ?
यदि पहला सच है
तो दूसरे में कहाँ गई सचाई ?
हर सुन्दर सत् से अनुस्यूत होता है
हर सत् अगर सुन्दर से पूत होता है
तो सुन्दर को छोड़ साधना क्या सम्भव है ?
सुन्दरता से रहित सत्य का जो अनुभव है

फिर वह कहाँ तक सत्य है?
जिसको हम पवित्रता कहते हैं
मन की, वाणी की और शरीर की
निस्संगता-पवित्रता
उसका उद्गम विकास-विस्तार
क्या कुरूपता में से ही होता है
क्या शिवत्व सुरूपता में रिस-रिस रोता है ?
ऐसे है ये प्रश्न कि
मन को भटकाए रखते हैं
और साधना को बढने से अटकाए रहते हैं
जो भी साधना, कर्म-तपस्या
शिव-सुन्दर में भेद किए है
वह शिव से भी दूर,
असुन्दर चिर संसार लिए है।

कला-बोध

टूटे दर्पण के बिखरे टुकड़ों-सी
जूड़े से उतार फेंके बेले के फूल-सी
खंड-खंड खण्डहर हुए गगनचुम्बी प्रासाद-सी
साल रही है यह निस्तब्ध रात
और यह समन्दर-सी विशाल विभ्रान्त-शान्त परिषद्
मेरे नायक !

मैं अब—
मैं अब और अधिक नहीं नाच सकूंगी

इसकी मुझे चिन्ता नहीं
कि चांद और सितारों ने सूरज की शरण ले ली है
अपने अभिनय-कला-कौशल की पराजय स्वीकार करते हुए
इसकी भी मुझे चिन्ता नहीं
कि मेरे पाँव थक गए हैं, शरीर पसीने से लथपथ है
और टूट-टूट कर चकनाचूर हो रहे हैं
मेरे अंग-प्रत्यंग, मांसपेशियाँ

और न ही चिन्ता है
भोजन-जल, विराम-तन्द्रा और स्वर्ण-मुद्रा की
किन्तु मेरे नायक !
इन पत्थर के बुतों के समक्ष
मैं कब तक भाव-प्रणय, गीत-नृत्य, विलास केलि-क्रीड़ा
का अभिनय करती रहूँगी ?

कब तक भरती रहूँगी उड़ानें-लक्ष्यहीन
इस असीम आश्रय-हीन शून्य गगन में
और कब तक लगाती रहूँगी डुबकियाँ
इस मौन, उदास, सीपों-भरे अतल पारावार में
तुम ताल को द्रुत मत होने दो,
मध्यम कर दो, नायक !
इसका और अधिक वेग अब मैं नहीं सह सकूँगी
मैं और अधिक देर पैरों पर खड़ी नहीं रह सकूँगी।

नायिका !
हमने अनजान में तो नहीं लिया यह खतरा
इन बुतों के समक्ष नृत्य-अभिनय करने का ?
यह जलती हुई मशाल
सागर की उत्ताल तरंगों पर अनजान में तो नहीं छोड़ी गई ?
और इस शून्य, अनन्त आकाश-विस्तार को लक्ष्य करके
किसी गलती से तो यह सायक प्रत्यंचा पर नहीं चढ़ाया गया
किन्तु हमारी कला का यह खुला आँगन—
इस तक कला की परख से वंचित यदि सितारों की
रोशनी नहीं पहुँच सके,
फिर भी, प्रिये !

तुम कला का अवमूल्यन मत होने दो,
कोई इस पर कला-पारखी चाँद-सूरज आएगा ही,
और हमारे इस कला-आँगन के अभिनय-दर्पण में
अपना मुँह झाँकेगा ही,
अपने को सँवारेगा ही
(नहीं सँवारे, फिर भी इससे कला का मोल
तो नही घट जाएगा)
इसलिए अब जब कि रात बहुत बीत गई है,
जो शेष है, वह भी बीतने वाली है
इस अल्प अवधि के लिए तुम रंग में भंग मत होने दो
प्रिये ! अन्ततः तुम्हारी साधना ही जीतने वाली है
इसी सम्बोधन के साथ
ताल की गति द्रुत हो गई
और विद्युत्-सी व्याप गई
नायिका के अंग-प्रत्यंग में, अभिनय में, नर्तन मे
हर स्पन्दन-थिरकन में,
परिषद् के हर कण-कण में।

और यह सम्बोधन—
जो कि सबके हृदय की आवाज थी—
साधना में निराश उस संन्यासी ने
इसी सम्बोधन के साथ अपना खोया संयम-धन पुनः पाया
राज्य-लिप्सा में मदांध राज-पुत्र ने
इसी सम्बोधन के साथ अपना विवेक-धन पाया
प्यार की उद्दाम लहरों पर झूलती राज-कन्या ने
इसी सम्बोधन के साथ अपना कुलाचार-धन पाया

किसी ने पाए ज्ञान-चक्षु
किसी ने अपना कर्तव्य-बोध
और फिर कला के दर्पण में अपने सही रूप को
पहचानने वाले चेहरे
बोल उठे—'साधुवाद, साधुवाद !'
फिर, वे उल्लास-भरे कला के भौतिक-अभौतिक उपहार—
यह लो रत्न-कम्बल
ये स्वर्ण-कुण्डल
यह मोतियों का हार
उमड़ रहा था अगणित हृदयों में अमित प्यार
गूँज उठे अनेकों गद्गद् स्वर—
'जय हो जय तेरी कलाकार !'

स्वर्णाभ सूर्योदय के साथ
स्वर्णाभ-वदन परिषद् लौट गई अपने आवासों की ओर
किन्तु सम्राट् का रक्ताभ चेहरा
अभिव्यक्त कर रहा था अपनी खीज, अपना अपमान
अपने से पहले—
अपने ही घर से दिया जाने वाला मुक्त-दान
ईर्ष्या उत्पन्न करने वाला जन-जन के मुख से यशोगान
एक सामान्य मनुज का,
सम्राट् के समक्ष ?
क्या नहीं है उसका घोरापमान ?
आहूत हुए तत्क्षण
संन्यासी, राज-पुत्र, राज-कन्या, अपराधी गण
किन्तु हुआ जब रहस्य अनावृत

सम्राट् धड़ाम से गिर पड़ा धरती पर
निष्चेतन—ऊपर का चेतन था मूर्छित
पर भीतर का चेतन जाग उठा
जाना उसने,
कला-साधना—मात्र नहीं अभिव्यक्ति स्वयं की
अभिनय-नर्त्तन है नहीं लुभावने प्रदर्शन आजीविका हित
वह प्राण—जहां से प्रकट हुई
वह प्राण—जहां पर प्रकट हुई
परित्राण सकल जगती की
क्योंकि सदा वह प्राण-प्राण से प्राण-प्राण पर प्रकट हुई
सुप्त चेतना जगी जब बाहर की—
भीतर से अन्वित
गुनगुना उठे तब अधर नृपति के—
'जय कलाकार, जय कलाकार
जिसकी रचना के सम्मुख सब
फीके भौतिक मृणमयोपहार।'

कवि-परिचय

जन्म : विक्रम संवत् १९९६, भाद्र शुक्ल ६ को सरदारशहर, राजस्थान में।

साहित्य, दर्शन और व्याकरण की योग्यतम परीक्षा में सर्वप्रथम। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषाओं पर समुचित अधिकार। आचार्य तुलसी के सान्निध्य में चल रहे आगम-अनुसन्धान कार्य में संलग्न। काव्य-साहित्य के प्रति बचपन से ही झुकाव। पहला कविता-संग्रह 'अन्धा चाँद' भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।